LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 6: आत्मसंयमयोग

2/4 (श्लोक 11-22), शनिवार, 25 अप्रैल 2026

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/BFh3J-s5fTk

आत्मसंशुद्धि का मार्ग

पारम्परिक प्रार्थना, दीप प्रज्वलन, गुरु वन्दना और भारत माता को प्रणाम करने के साथ आज का सत्र प्रारम्भ हुआ।
श्रीमद्भगवद्गीता वह अनुपमेय गीत है जो प्रत्यक्ष समराङ्गण में श्रीभगवान् ने गाया। पाँच सहस्र वर्ष पूर्व श्रीभगवान् के मुखारविन्द से बही यह शाश्वत ज्ञान की धारा आज भी उतनी ही प्रभावी है। हमारे मन के उपवन को यह हरा-भरा करने वाली है। इसके लिए कवि कहते हैं–

"जाने क्या जादू भरा हुआ भगवान् तुम्हारी गीता में।
मन चमन हमारा हरा हुआ भगवान् तुम्हारी गीता में॥"

हम जितने गहरे इसके अर्थ में गोते लगाएँगे, नये-नये रत्न हमें इस श्रीमद्भगवद्गीता में मिलेंगे। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज इसकी महत्ता का गान करते हुए एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत करते हैं, जिसमें माता पार्वती भगवान् शिव शङ्कर से इस दिव्य ज्ञान की महिमा के विषय में प्रश्न करती हैं।
ज्ञानेश्वर महाराज उस प्रसङ्ग का वर्णन इस प्रकार करते हैं-

"या गीतार्थाची थोरी । स्वयें शंभू विवरी ।
जेथ भवानी प्रश्नु करी । चमत्कारोनी ||"
(ज्ञानेश्वरी, ||1.70||)

भवानी माँ, पार्वती माता अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर श्रीभगवान् शिव से जिज्ञासा करती हैं कि इस श्रीमद्भगवद्गीता की महत्ता का मर्म क्या है? माता पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभगवान् शिव शङ्कर कहते हैं-

"तेथ हरू म्हणे नेणिजे । देवी जैसें का स्वरूप तुझें ।
तैसें नित्यनूतन देखिजे । गीतातत्व ॥
(ज्ञानेश्वरी, ||1.71||)

"हे देवी! जिस प्रकार आपका स्वरूप नित्य नूतन है, वैसे ही यह गीता तत्त्व भी नित्य नवीन भासित होता है।"

जैसे यह वसुन्धरा प्रत्येक ऋतु में अपना रूप परिवर्तित कर हमें नूतनता का अनुभव कराती है- वर्षा ऋतु में चारों ओर व्याप्त हरियाली, शरद् ऋतु की धवल चाँदनी में निखरी पृथ्वी की आभा और वसन्त ऋतु में पल्लवित होते नवीन पुष्प व पादप जिस प्रकार

सृष्टि का श्रृङ्गार करते हैं-

उसी प्रकार **"यह गीता तत्त्व भी नित्य नूतन है।"**

यदि हम इस ज्ञान की गहराई में उतरने का प्रयास करेंगे तो हमें अनेक दिव्य रत्न प्राप्त होंगे। इन रत्नों की प्राप्ति हेतु, हमें अपने जीवन को अनुशासित करना होगा और स्वयं को एक साधक के रूप में ढालना होगा। **'आत्मसंयम योग'** नामक यह अध्याय स्पष्ट करता है कि एक साधक का जीवन कैसा होना चाहिए और उसे अपने जीवन में किस प्रकार का सन्तुलन (Balance) बनाए रखना चाहिए ।

जीवन में संयम के तट

हमने पूर्व में देखा कि किस प्रकार नदी की धारा का प्रवाह उसे सागर अथवा किसी अन्य नदी से मिलन हेतु ले जाता है। नदी के दो किनारे उसे दिशा प्रदान करते हैं। यदि हमारे जीवन में भी यह संयम रूपी तट नहीं होंगे तो हम अपने ध्येय तक नहीं पहुँच पाएँगे। हमारे जीवन के ये सन्तुलन रूपी किनारे जिन्हें हम आत्मसंयम कहते हैं, उनका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ऐसे साधक का चित्रण करते हैं जो साधना कर सिद्ध पुरुष हो गया है। जीवन पथ पर चलते-चलते जिसने स्वयं के जीवन को साध लिया है और वह अपने अन्तिम गन्तव्य तक पहुँच गया है। वे उस अवस्था का वर्णन हमारे सम्मुख करते हैं और अन्य साधक **'आरुरुक्षु'** बनकर उस साधना पथ पर अग्रसर होते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं-

"यदि हमें उस आत्मतत्त्व तक पहुँचना है तो हमें उस अन्तःयात्रा को पहले करना ही होगा"

हमने देखा कि तीर्थयात्रा से पुण्य तो प्राप्त होता है किन्तु कभी-कभी जब हम तीर्थयात्रा पर जाते हैं तो वहाँ घटी हुई घटनाएँ हमारे मन पर अङ्कित हो जाती हैं।

किसी मन्दिर में जाने पर हमारे साथ जो व्यवहार होता है, वह कभी-कभी उचित नहीं होता। हम देखते हैं कि वहाँ के लोग किस प्रकार भ्रष्टाचार कर रहे हैं और आचरण पूर्णतः नष्ट हो गया है। ये समस्त बातें हमारे मन में घर कर लेती हैं और हम अपना मन मलिन करके लौटते हैं। पुण्य तो प्राप्त हो गया किन्तु मन में शान्ति नहीं मिली। कितनी भी तीर्थयात्रा कर ली जाये, कदाचित् शान्ति प्राप्त नहीं होती। वास्तविक शान्ति तो अन्तःयात्रा से ही मिलेगी।

इस अन्तःयात्रा को किस प्रकार करना है, इसका मार्ग योगियों ने हमारे लिए प्रशस्त कर दिया है। उसी का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं-

"योगी युञ्जीत सततम्, आत्मानं(म्) रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः॥6.10॥"

साधना हेतु उपयुक्त स्थान का चयन

योगी अपनी साधना के निमित्त एक विशिष्ट स्थान का चयन करते हैं। वह स्थान पवित्र एवं रमणीय होना चाहिए, जहाँ कोई देवालय हो, समीप ही कोई सरिता प्रवाहित होती हो, जहाँ वृक्षों की शीतल छाया हो और प्रकृति का सौन्दर्य बिखरा हुआ हो। ऐसी शान्त प्रकृति हमारे अन्तःकरण को स्थिरता प्रदान करती है।

साधना हेतु ऐसा स्थान उपयुक्त है जहाँ जन-सामान्य का आवागमन न हो। इसी को श्रीभगवान् ने कहा है-

"एकाकी रहसि स्थितः" और **"निराशीरपरिग्रहः"**

अपरिग्रह का अर्थ है— जहाँ अत्यधिक वस्तुओं का सङ्ग्रह न हो, क्योंकि वस्तुओं का बाहुल्य हमारे ध्यान को विचलित करता है।

जब हम किसी मन्दिर में जाते हैं तो कभी-कभी वहाँ की भव्य सज्जा, श्रीभगवान् के सुन्दर वस्त्र और आभूषणों में ही हमारा मन आसक्त हो जाता है। हम बाह्य चकाचौंध को देखने में इतने निमग्न हो जाते हैं कि साक्षात् श्रीभगवान् का विस्मरण ही कर देते हैं इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं-

"जहाँ अपरिग्रह की स्थिति हो, योगी जन उसी स्थान का चयन करते हैं और एकान्त में अपनी अन्तःयात्रा का शुभारम्भ करते हैं।"

वह अन्तःयात्रा कैसी हो, इसका सविस्तार वर्णन श्रीभगवान् ग्यारहवें श्लोक में करते हैं-

6.11

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं(न्) नातिनीचं(ञ्), चैलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥

शुद्ध भूमि पर, (जिस पर क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, (जो) न अत्यन्त ऊँचा है (और) न अत्यन्त नीचा, (ऐसे) अपने आसन को स्थिर स्थापन करके।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि ध्यान में प्रविष्ट होने से पूर्व और एकान्त वास के चयन हेतु वह स्थान कैसा होना चाहिए? वह स्थान **'शुचि'** अर्थात् परम पवित्र होना चाहिए। वहाँ पर तरङ्गों (Waves) की स्थिति पर यह निर्भर करेगा कि हमारा चित्त वहाँ एकाग्र हो पाएगा अथवा नहीं।

विद्यार्थी लोक पुस्तकालय (Public Library) में जाकर अध्ययन करते हैं क्योंकि वहाँ उस प्रकार की सात्त्विक तरङ्गें विद्यमान होती हैं। विद्यार्थी वहाँ जाकर एकाग्रचित्त होकर पढ़ते हैं। वहाँ अध्ययन के अनुकूल एक विशिष्ट वातावरण और वायुमण्डल होता है। यह वायुमण्डल अत्यन्त प्रभावशाली होता है और इसी के कारण वहाँ उत्तम रीति से अध्ययन सम्पन्न होता है।

उसी प्रकार, यदि एकान्त सुलभ न हो तो सत्सङ्ग के माध्यम से उन साधु-सन्तों, गुरुदेव अथवा सद्गुरु के सान्निध्य में बैठना चाहिए, जिनका ध्यान पूर्णतः एकाग्र होता है। जो निरन्तर ध्यान में लीन रहते हैं, उनके साथ यदि हम भी ध्यान हेतु बैठ जायें तो हमारा चित्त भी स्वतः ही एकाग्र होने लगता है। इस प्रकार हमारी भी अन्तःयात्रा का शुभारम्भ हो जाता है।

पवित्र स्थान और ब्रह्ममुहूर्त का चयन
समय और स्थान की शुद्धि के विषय में श्रीभगवान् कहते हैं-

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य"

स्थान अत्यन्त पवित्र होना चाहिए। यदि हम किसी मदिरालय अथवा क्रीडा-स्थल (Club) में जायें, जहाँ लोग मद्यपान कर रहे हों, द्यूत (जुआ) खेल रहे हों या अनैतिक क्रियाकलापों में रत हों तो वहाँ हमारा चित्त परमात्मा में कदापि नहीं लग पाएगा। अतः स्थान और समय दोनों की पवित्रता अनिवार्य है।

ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय प्रातःकाल का होता है जो हमारे 'कुरुक्षेत्र' के आरम्भ से पूर्व का हो। हमारा कुरुक्षेत्र अर्थात् हमारे कर्म का क्षेत्र। जैसे ही पौ फटती है और **भगवान् सूर्य** उदित होते हैं, सम्पूर्ण सृष्टि कर्मरत हो जाती है। पक्षी दाना चुगने लगते हैं, कमल और अन्य पुष्प विकसित होने लगते हैं तथा चराचर जगत् में कर्म की हलचल प्रारम्भ हो जाती है। **अतः**

सूर्योदय के पूर्व का समय ही ध्यान के लिए श्रेष्ठ है,

उस समय कर्म की हलचल शान्त होती है और बीते कल के कर्म पूर्ण हो चुके होते हैं। हमें यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि जिन विषयों से मन अशान्त होता हो, उन्हें पहले ही पूर्ण कर लें ताकि शान्तिपूर्वक बैठ सकें।

आसन की शास्त्रीय संरचना
श्रीभगवान् आसन के विषय में निर्देश देते हैं-

"चैलाजिनकुशोत्तरम्"।

यहाँ तीन वस्तुओं का उल्लेख है- चैल (कपास का वस्त्र), अजिन (मृगचर्म) और कुश (दर्भासन)। योगियों के लिए दर्भासन का विशेष महत्त्व है। इसमें सर्वप्रथम कुश, उसके ऊपर मृगचर्म और फिर सूती वस्त्र बिछाया जाता है अथवा कुछ पद्धतियों में इसके विपरीत क्रम भी होता है।

मृगचर्म के विषय में यह विशेष नियम है कि वह उसी मृग का होना चाहिए जिसकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई हो। मृगचर्म की यह विशेषता है कि उस पर चींटियाँ अथवा अन्य कीट-पतङ्गें नहीं आते, जिससे ध्यान की प्रक्रिया में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता।

आसन की ऊँचाई के विषय में **श्रीभगवान्** कहते हैं-

"नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्"

आसन न तो बहुत ऊँचा हो कि चरण लटकने लगें और न ही इतना नीचा हो कि भूमि की कठोरता के कारण पैरों में पीड़ा हो और ध्यान खण्डित हो जाए।

"आत्मनः आसनं स्थिरं प्रतिष्ठाप्य"

साधक को अपना आसन स्वयं स्थिर करके उस पर बैठना चाहिए।

आकर्षण का नियम और शब्द शक्ति ((Law of Attraction)
ब्रह्माण्ड में तरङ्गों का महत्त्व अपरिमित है। आकाश का गुण 'शब्द' है। जब हम **श्रीमद्भगवद्गीता** अथवा दुर्गासप्तशती का पाठ करते हैं तो उसे केवल मन ही मन (उपांशु) न करके स्पष्ट वाणी में करना चाहिए। ये शब्द ध्वनितरङ्गों (Sound Waves) के माध्यम से वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी कहते थे कि हम अपने मन, वाणी और कृत्य से इस ब्रह्माण्ड (Cosmos) में जिस प्रकार की तरङ्गें प्रेषित करते हैं, आकर्षण के सिद्धान्त (Law of Attraction) के अनुसार वैसी ही तरङ्गें हमारी ओर पुनः आकर्षित होकर आती हैं। यदि हम ऐसे स्थान पर बैठें जहाँ पूर्व में साधना हुई हो, स्तोत्र-पाठ हुआ हो या जहाँ गुरुदेव का सान्निध्य रहा हो तो वहाँ हमारा ध्यान गृह की कर्म-हलचल की अपेक्षा शीघ्र एकाग्र होता है। यद्यपि हम अपने ठाकुरबाड़ी (पूजा घर) में भी ध्यान कर सकते हैं, किन्तु वहाँ एकान्त और पवित्रता का होना अनिवार्य है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज इस विषय में कहते हैं-

"अभ्यासुचि आपणयातें करी , हृदयातें अनुभव वरि।
ऐसी रम्यपणाची थोरी, अखंड जेथ ॥"
(ज्ञानेश्वरी , ||6.166||)

जहाँ अभ्यास करने का मन हो जाए, जहाँ हृदय में परमात्मा की अनुभूति होने लगे, वही स्थान साधना के योग्य है। इसके अतिरिक्त -

"आणिकही एक पहावें, साधकीं वसतें होआवें।
आणि जनाचेनि पायरवें, रुळेचिना ॥"
(ज्ञानेश्वरी , ||6.172||)
जहाँ साधकों की बस्ती हो, जहाँ अनावश्यक आवागमन न हो, ऐसा स्थान साधना के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार इसका यह अत्यन्त मनोरम वर्णन श्रीज्ञानेश्वर महाराज करते हैं।
श्रीभगवान् आगे बताते हैं कि वहाँ पर जाकर क्या करना होगा?

6.12

तत्रैकाग्रं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्, योगमात्मविशुद्धये॥12॥

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।

विवेचन- श्रीमद्भगवद्गीता के अभ्यास में 'उपविष्यासने' और 'योगमात्मविशुद्धये' का बड़ा महत्त्व है। साधक को ऐसे स्थान का चयन करना चाहिए जो अत्यन्त रमणीय हो। श्रीभगवान् की इस सुन्दर और हरी-भरी वसुन्धरा को देखकर जहाँ परमात्मा की स्मृति हो आए, वहीं योग का अभ्यास करना श्रेयस्कर है। किसी कवि ने इसे बड़े ही मार्मिक ढङ्ग से चित्रित किया है-

"हरी हरी वसुन्धरा पे नीला नीला ये गगन
के जिस पे बादलों की पालकी उड़ा रहा पवन

दिशाएं देखों रङ्ग भरी,चमक रही उमङ्ग भरी,
ये किसने फूल फूल पे किया सिङ्गार है,
ये कौन चित्रकार है, ये कौन चित्रकार ।"

ये कौन चित्रकार?
हमें उस सृष्टिकर्ता की पहचान करनी चाहिए और इसी भावना के साथ वहाँ एकाग्र हो जाना चाहिए। श्रीभगवान् कहते हैं—

- **चैलाजिनकुशोत्तरम्**'- आसान को पहले परिभाषित कर दिया
- **'आसने उपविष्य'** अर्थात् आसान पर बैठकर
- "**यतचित्तेन्द्रियक्रियः**", इन्द्रिय, चित्त इनकी क्रियाओं को अपने नियन्त्रण में लाते हुए
- "**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा।"** अपने मन को एकाग्र किया जाये

यह योग किसलिए करना है? इस मन को एकाग्र करने की क्या आवश्यकता है? बहिरङ्ग में भटकने वाले इस मन को अन्तःयात्रा, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर मोड़ना है-

'**आत्मविशुद्धये**'

अर्थात् मन में जो अशुद्धियाँ हैं, चित्त में जो किल्बिष है उनको शुद्ध करने के प्रयोजन के लिये। यह जीवन, बुद्धि और व्यक्तित्व की शुद्धि तथा मन को स्वच्छ, निर्मल बनाने के लिए अनिवार्य है।

यदि किसी सरोवर में हीरे की अङ्गूठी गिर जाये तो वह तभी दृष्टिगोचर होगी जब जल शान्त, स्वच्छ और तरङ्गरहित हो। इसी प्रकार हमारा आत्मस्वरूप, जो परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है, मन, बुद्धि और अहङ्कार के भीतर स्थित है। अनेक जन्मों के संस्कारों और विकारों की तरङ्गों ने हमारे चित्त को मैला कर दिया है। दशम अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं-

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा,बोधयन्तः परस्परम्।" ॥10.9||

श्रीभगवान् निर्देश देते हैं-

"चित्त मुझमें लगाओ।"

वे ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि जो साधक उन पर दृढ़ श्रद्धा रखते हैं, उन्हें ज्ञात है कि श्रीभगवान् अविकारी हैं। जब हम अपना चित्त किसी अविकारी तत्त्व में लगाते हैं तो हमारा चित्त भी धीरे-धीरे विकारों का त्याग करने लगता है। सन्त तुलसीदास जी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"इति वदति तुलसीदास शंकर शेष मुनि मन रंजनं ।
मम् हृदय कंज निवास कुरु कामादि खलदल गंजनं ॥"

"हे भगवान् श्रीराम! आप मेरे हृदय में निवास कीजिए, क्योंकि आप पूर्णतः अविकारी हैं। आप संसार के किसी भी विकार से प्रभावित नहीं होते।" राज्याभिषेक के अवसर पर जब माता कैकेयी ने उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दिया तब भी उनके मन में कोई कटुता नहीं थी। उन्होंने उसे भी माता ही सम्बोधित किया और उतना ही प्रेम दिया। ऐसे अविकारी परमात्मा के हृदय में स्थित होने से ही हमारे अन्तःकरण के विकार शान्त होते हैं।

अष्टाङ्ग योग-स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा
श्रीभगवान् कहते हैं कि आत्मविशुद्धि अर्थात् अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए योग आवश्यक है। इसके लिए साधक को स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना पड़ता है। सर्वप्रथम शरीर को एक आसन पर स्थिर करना होता है। महर्षि पतञ्जलि ने 'अष्टाङ्ग योग' का मार्ग बताया है, जिसमें आठ सोपान हैं-

1. यम

2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि

इसमें **यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को 'बहिरङ्ग योग' या 'हठयोग'** कहा जाता है, जबकि **धारणा, ध्यान और समाधि 'अन्तरङ्ग योग'** हैं। प्राणायाम के माध्यम से हम अपने मन को उस व्यापक वायु में केन्द्रित करते हैं, जिससे मन की सङ्कुचितता दूर होती है। श्रीमद्भगवद्गीता के पाँचवें अध्याय में भी इसका वर्णन मिलता है-

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्, चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
5.27

नासिका के भीतर चलने वाले प्राण पर मन को केन्द्रित करना ही प्राणायाम है। इसके पश्चात् आता है 'प्रत्याहार', जिसका अर्थ है प्रत्येक इन्द्रिय को उसका सात्त्विक आहार प्रदान करना-

- आँखों को श्रीभगवान् के विग्रह का दर्शन कराना।
- कानों को श्रीभगवान् की कथा और स्तोत्रों का श्रवण कराना।
- नासिका को श्रीभगवान् के चरणों की सुगन्ध का अनुभव कराना।

सन्त तुकाराम महाराज अपने मराठी अभङ्ग में इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से कहते हैं-

"**घेई घेई माझे वाचे। गोड नाम विठ्ठलाचे॥**
डोळे तुम्ही घ्या रे सुख। पहा विठ्ठलाचे मुख॥
तुम्ही ऐका रे कान। माझे विठ्ठलाचे गुण॥
मना तेथे धाव घेई। राही विठ्ठलाचे पायी॥"

'घेई घेई माझे वाचे गोड नाम विठ्ठलाचे'- वाणी को विठ्ठल के नाम का आलम्बन।
'डोळे तुम्ही घ्यारे सुख पहा विठ्ठलाचे मुख'-आँखों को श्रीभगवान् के रूप का आलम्बन।
'तुम्ही ऐका रे कान माझे विठ्ठलाचे गुण'- कानों को श्रीभगवान् के स्तोत्र का आलम्बन और
'मना तेथे धाव घेई राही विठ्ठलाचे पायी'- मन को विठ्ठलजी के चरण कमलों के परागों में स्थिर करना।

जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं तब धारणा, ध्यान और समाधि के सोपान सरल हो जाते हैं। श्रीभगवान् यहाँ बैठने की विधि और योग की सूक्ष्म बारीकियों को विस्तार से समझाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि ध्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व उन विषयों को पूर्ण कर लेना चाहिए जो हमारे मन को अशान्त करते हैं। जब मन की व्यग्रता शान्त हो जाए, तब प्रातःकाल के समय ध्यान, धारणा और समाधि का अल्प अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए श्रीभगवान् ने बैठने की पद्धति और आसन के स्वरूप का सविस्तार वर्णन किया है। आसन न तो बहुत ऊँचा होना चाहिए और न ही बहुत नीचा। शारीरिक स्थिति के विषय में वे अगले श्लोक में बताते हैं।

6.13

समं(ङ्) कायशिरोग्रीवं(न्), धारयन्नचलं(म्) स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं(म्) स्वं(न्), दिशश्चानवलोकयन्॥13॥

काया, शिर और ग्रीवा को सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओं को न देखकर (केवल) अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुए स्थिर होकर (बैठे)।

विवेचन- इस श्लोक में श्रीभगवान् मन को स्थिर करने की विधि बतलाते हैं। यहाँ **'कायशिरोग्रीवं'** का अर्थ है कि हमारा शरीर (काय), मस्तक (शिर) और ग्रीवा (गर्दन) एक सीधी रेखा में स्थिर हों,

'समं अचलम् धारयन्'

शरीर निश्चल और समान स्थिति में हो। मन की स्थिरता से ही अन्तःकरण और चित्त शान्त होते हैं और तभी हम अपने भीतर उस परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं।

दृष्टि का संयम और ज्ञानचक्षु

चित्त की एकाग्रता के लिए मन को किसी न किसी आधार (आलम्बन) की आवश्यकता होती है। बहिरङ्ग में पहले स्थूल शरीर को स्थिर करना पड़ता है, तत्पश्चात् ही मन सूक्ष्मतत्त्व पर टिक पाता है। इसीलिए श्रीभगवान् निर्देश देते हैं— 'नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य'
अर्थात् अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर टिकायें और 'दिशोऽनवलोकयन्' अर्थात् अन्य दिशाओं की ओर से अपनी दृष्टि हटा लें।

गुरुदेव कहते हैं—

"नासिका का अग्रभाग दोनों भौंहों के मध्य ही स्थित होता है, जहाँ हमारा ज्ञानचक्षु है।"

हमारे दो चर्मचक्षु हैं, जिन्हें त्रिनेत्रों के प्रतीक स्वरूप माना गया है किन्तु तीसरा नेत्र दोनों भौंहों के मध्य होता है। इसे ही 'ज्ञान का नेत्र' कहा जाता है। भगवान् शङ्कर की प्रतिमाओं में हम इसी तृतीय नेत्र के दर्शन करते हैं। यह ज्ञान-नेत्र सुप्तावस्था में होता है और श्रीभगवान् से हमारी यही प्रार्थना होनी चाहिए—

"हे श्रीभगवान्! हमारे ज्ञान के नेत्र खोल दीजिये।"

यहाँ एक रहस्यमयी बात यह है कि श्रीभगवान् हमें आँखें पूर्णतः मूँदने के लिए नहीं कहते। यदि हम आँखें पूरी तरह बन्द कर लेते हैं तो चित्त में सञ्चित (Stored) पुराने घटनाक्रम, दृश्य और शब्द स्मृति पटल पर उभरने लगते हैं जो ध्यान में बाधा डालते हैं। इसके अतिरिक्त, आँखें बन्द करने से निद्रा आने की भी सम्भावना रहती है। अतः आँखें अर्धोन्मीलित (आधी खुली) रखकर नासिकाग्र पर एकाग्र होना चाहिए।

परमात्मा से मिलन की उत्कण्ठा

विभिन्न योगी अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार एकाग्रता के भिन्न-भिन्न मार्गों का चयन करते हैं। कुछ लोग दीपक की लौ पर तो कुछ उदित होते सूर्य भगवान् पर अपनी दृष्टि एकाग्र करते हैं। श्रीभगवान् हमारे लिए वह मार्ग प्रशस्त करते हैं जहाँ परम शान्ति प्राप्त हो सके।

हमें यह विचार करना चाहिए कि यह अन्तःयात्रा किसके लिए है? यह मिलन उस सृष्टिकर्ता से होने जा रहा है। हमें यह बोध होना चाहिए कि हम इस सृष्टि पर क्यों आए हैं? जीव, जगत् और जगदीश्वर का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह मनुष्य देह ही 'योगयोनि' है जबकि अन्य सभी योनियाँ 'भोगयोनियाँ' हैं।

परमात्मा को हम किसी भी नाम से पुकारें— चाहे उन्हें श्रीभगवान् कहें, सृष्टिकर्ता कहें, ॐकार कहें या निर्गुण-निराकार— मुख्य उद्देश्य उनकी पहचान और उनसे मिलन है। यह तभी सम्भव है जब अन्तःकरण में उनसे मिलने की तीव्र इच्छा जागृत हो।

इसे एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। यदि हमें किसी उच्च पदाधिकारी जैसे प्रधानमन्त्री जी से मिलना हो तो हमें कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता है। वहाँ सुरक्षा जाँच (Security check) होती है और हमें अनुचित वस्तुओं को बाहर ही छोड़ना पड़ता है। पूर्ण शिष्टाचार और शुद्धि के साथ ही हम उस कक्ष में प्रवेश पाते हैं।

जब सांसारिक उच्चाधिकारियों से मिलने के लिए इतने नियम हैं, यह तो 'जीव और शिव' का महामिलन है! इसके लिए हमें स्वयं को परमात्मा के अनुरूप बनाना ही होगा। श्रीभगवान् यहाँ उन्हीं नियमों और मर्यादाओं का आलम्बन लेने का मार्ग बताते हैं, जिससे अन्तःकरण प्रशान्त हो सके।

6.14

प्रशान्तात्मा विगतभी:(र्), ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः(स्) संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः॥14॥

जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचारिव्रत में स्थित है, (ऐसा) सावधान ध्यान-योगी मन का संयम करके मेरे में चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।

विवेचन- श्रीभगवान् ने यहाँ साधक हेतु एक विशिष्ट सञ्ज्ञा प्रयुक्त की है—

'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'।

'ब्रह्मचारिव्रते' का अर्थ है— **'ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी'**।

अर्थात् जो उस ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति हेतु, ब्रह्माण्ड की उस परम चेतना जिसे 'ब्रह्म' कहा जाता है, उसे प्राप्त करने की अभीप्सा रखता है। **श्रीमद्भगवद्गीता** में हम इसी **'ब्रह्मविद्या'** का अनुशीलन कर रहे हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका में भी इसे **'ब्रह्मविद्या'** और **'योगशास्त्र'** कहा गया है। अतः जो इस विद्या को सीखने का इच्छुक है, वही वास्तविक अर्थों में 'ब्रह्मचारी' है।

यहाँ 'ब्रह्मचारी' शब्द केवल उस प्रथम आश्रम का वाचक नहीं है जिसे हम विद्यार्थी अवस्था कहते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने जीवन को चार आश्रमों— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास— में विभाजित किया है। किन्तु यहाँ **'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'** का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसका आचरण पूर्णतः ब्रह्म की प्राप्ति के प्रति समर्पित है।

श्रीभगवान् कहते हैं-

"ब्रह्मचारिव्रते स्थितो विगतभीः प्रशान्तात्मा।"

साधक को सर्वप्रथम **'विगतभीः'** अर्थात् भयरहित होना चाहिए। **'भी'** का अर्थ है भय। श्रीभगवान् ने दैवी सम्पदा के लक्षणों में 'अभय' को अग्रिम स्थान दिया है—

"**अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः"।।16.1।।**

हम उस परमात्मा के अंश हैं और स्वयं अंशी से मिलने की यात्रा पर निकले हैं तब मन में किसी प्रकार का भय शेष नहीं रहना चाहिए। श्रीभगवान् कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित होकर भयरहित हो जाता है, वही **'प्रशान्तात्मा'** बनता है। **'प्रशान्तात्मा'** अर्थात् जहाँ अशान्ति का लेशमात्र भी प्रवेश न हो सके। चाहे परिस्थितियाँ अनुकूल हों या प्रतिकूल, जिसका चित्त सदैव स्थिर रहे, वही युक्त है। साधक को अपने मन को संयमित कर **'मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'**—

अर्थात् अपने चित्त को मुझमें लगाकर, मुझ परायण होकर ही स्थित होना चाहिए।

जीवन के केन्द्र में परमात्मा

साधक के जीवन के केन्द्र में सदैव परमात्मा होने चाहिए। जिसके जीवन का केन्द्र श्रीभगवान् बन जाते हैं, वही

'मत्परः' कहलाता है।
'अहमेव पर यस्य सः'—
अर्थात् जिसके लिए 'मैं' (परमात्मा या आत्मा) ही एकमात्र श्रेष्ठ (पर) है, वही 'मत्पर' है।

जब हम मन्दिर जाते हैं, तब श्रीभगवान् की विग्रह-मूर्ति की प्रदक्षिणा करते हैं। इस प्रदक्षिणा का आध्यात्मिक भाव यही है कि—

"हे भगवान्! आप मेरे जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो जाइए और मैं अपने जीवन की प्रत्येक गतिविधि आपको ही केन्द्र मानकर चलता रहूँ।"

हम इस संसार रूपी अत्यन्त सुन्दर वाटिका में आते हैं जिसे श्रीभगवान् ने ही सजाया है। विडम्बना यह है कि हम इस वाटिका के सौन्दर्य में तो उलझ जाते हैं किन्तु उस सृष्टि-कर्ता को जानने का प्रयास बहुत कम लोग करते हैं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण परमहंस जी एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण देते थे। वे कहते थे कि मनुष्य इस संसार की नदियों और दृश्यों के मोह में खो जाता है किन्तु उसके मन में कभी यह प्रश्न नहीं उठता कि इस उपवन का स्वामी कौन है? इस विचित्र चित्रकारी को बनाने वाला वह परम चित्रकार कौन है?

श्रीभगवान् कहते हैं कि जिनके अन्तःकरण में उस परम तत्त्व को जानने की जिज्ञासा जाग्रत हो गई है, उन्हें **'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'** होकर परमात्मा को केन्द्र में रखते हुए मन को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए।

केन्द्र की महिमा और कबीर का दृष्टान्त
पूज्य गुरुदेव का एक बहुत ही प्रभावशाली वचन है—

"'विशुद्ध परमार्थ' का आरम्भ तभी होता है, जब परमात्मा हमारे जीवन का केन्द्र बन जाते हैं।"

केन्द्र का स्थान विलक्षण होता है। यह पूर्णतः समत्व का प्रतीक है। जिस प्रकार एक वृत्त (Circle) का मध्य बिन्दु (Center) परिधि पर स्थित प्रत्येक बिन्दु से समान दूरी पर (Equidistant) होता है, उसी प्रकार केन्द्र में स्थित होने का अर्थ है— 'समत्व' में स्थित होना। यह समत्व ही योग का सार है। जो इस केन्द्र को प्राप्त कर लेता है, वह जीवन के समस्त सङ्कटों और आपाधापी के मध्य भी सुरक्षित रहता है। सन्त कबीरदास जी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

"**चलती चक्की देखि कर, दिया कबीरा रोय।**
दुइ पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय॥"

यह संसार काल की एक विशाल चक्की के समान है, जिसमें दो पाटों (जन्म और मृत्यु) के बीच फँसकर प्रत्येक प्राणी पिस रहा है। कोई भी इससे अछूता नहीं है किन्तु उनके पुत्र कमाल ने इस पर एक अत्यन्त गम्भीर और विलक्षण उत्तर दिया—

"**चक्की चलती देखकर, हँसा कमाल ठठाय।**
कील के पास जो लगा रहा, वही अनाज बच जाय॥"

कमाल (सन्त कबीर के पुत्र) कहते हैं कि सारा अनाज आटा नहीं बनता। जो गेहूँ केन्द्र की उस 'कील' (धुरी) से सटकर रहते हैं, वे साबुत बच जाते हैं। इसी प्रकार जो साधक केन्द्र की ओर बढ़ता है और परमात्मा रूपी कील का आश्रय ले लेता है, उसका विनाश कभी नहीं होता। वह काल के चक्र से मुक्त हो जाता है।

तीर्थयात्रा और मन्दिर दर्शन का अपना महत्त्व तो है ही किन्तु जीवन में कभी न कभी इस 'अन्तःयात्रा' का प्रारम्भ अवश्य होना चाहिए।

6.15

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(म्), योगी नियतमानसः।
शान्तिं(न्) निर्वाणपरमां(म्), मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

वश में किये हुए मन वाला योगी मन को इस तरह से सदा (परमात्मा में) लगाता हुआ मुझमें सम्यक् स्थिति वाली (जो) निर्वाण

परम शान्ति है, (उसको) प्राप्त हो जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् उस निर्वाण पद का वर्णन करते हैं, जो शान्ति और सच्चिदानन्द से परिपूर्ण है। वे कहते हैं—

"नियतमानसः योगी एवं आत्मानं सदा युञ्जन्। "

'नियतमानसः' अर्थात् जिसने अपने मन को पूर्णतः समेट लिया है, जिसने संसार की ओर दौड़ने वाली मन की समस्त वृत्तियों को रोककर उन्हें अन्तर्मुख कर लिया है और स्वयं को इस अन्तःयात्रा में लीन कर दिया है।

हे अर्जुन! इस प्रकार का जो योगी होता है, वह चाहे व्यवहार जगत् में हो अथवा युद्धभूमि में, उसका मन सदैव अपने मूल स्रोत से एकाकार रहता है। जिस प्रकार किसी विद्युत कोष (Battery) को ऊर्जित (Charge) करने के लिए उसे स्रोत से जोड़ना आवश्यक है, उसी प्रकार योगी उस परमात्मा से अपना जुड़ाव (Connection) कभी खण्डित नहीं होने देता।

परमात्मा से तादात्म्य और सच्चिदानन्द

इसे एक दृष्टान्त से समझें— जैसे विद्युत मण्डल (Electricity Board)से तार जोड़ने पर ही विद्युत प्राप्त होती है और नल से नली (Pipe) लगाने पर ही जल मिलता है, वैसे ही हम स्वयं को जहाँ जोड़ते हैं, वहीं की शक्ति हमारे भीतर प्रविष्ट होने लगती है। यदि हम अपना मन श्रीभगवान् में लगाएँगे, तो उनकी अनन्त शक्ति हमारे भीतर प्रवाहित होने लगेगी।

"मत्संस्थाम् निर्वाणपरमां शान्तिम् अधिगच्छति।"

'मत्संस्थाम्'- मुझमें मन लगाने का फल यह है कि योग (तादात्म्य) घटित होते ही साधक; **'निर्वाणपरमां शान्तिम्'** अर्थात् उस परम निर्वाणमयी शान्ति को प्राप्त कर लेता है जो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है। एक बार यह शान्ति प्राप्त हो जाए तो वह साधक के लिए एक अभेद्य ढाल बन जाती है। संसार में विचरण करते समय प्रतिकूल परिस्थितियों की कितनी ही तरङ्गों का आघात क्यों न हो, यह शान्ति कभी डिगती नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी उस निराकार, ओङ्कार स्वरूप परमात्मा की स्तुति में कहते हैं—

"नमामीशमीशान निर्वाणरूपं,
विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं,
चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्॥
निराकारमोंकारमूलं तुरीयं,
गिरा ग्यान गोतीतमीशं गिरीशम्।
करालं महाकाल कालं कृपालं,
गुणागार संसारपारं नतोऽहम्॥"

वे विभु, व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरूप हैं। उनका स्वरूप कैसा है? 'निर्वाण' और 'शान्त'। उन्हें हम **'सच्चिदानन्द'** शब्द से सम्बोधित करते हैं, और वही हमारे भीतर समाहित हो जाता है-

- **सत्**- वह अनन्त जीवन जो कभी नष्ट नहीं होता।
- **चित्**- वह अखण्ड और समग्र ज्ञान।
- **आनन्द**- जिसका कोई विलोम शब्द नहीं है। सुख के साथ दुःख जुड़ा है, किन्तु आनन्द अद्वितीय और अद्वैत है।

साधना की कसौटी और साधक की गति

श्रीभगवान् कहते हैं-
"अर्जुन! वह साधक निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।"
इस अवस्था तक पहुँचने के लिए जीवन को साधना अनिवार्य है। प्रश्न उठता है कि उस परमात्मतत्त्व का संस्पर्श किसे और कब प्राप्त होगा? क्या इसी जन्म में यह सम्भव है?

इसके उत्तर में श्रीभगवान् कतिपय अनिवार्य परिस्थितियाँ (Conditions) बताते हैं। अर्जुन! कौन कब गन्तव्य तक पहुँचेगा, यह उसकी अपनी गति पर निर्भर करता है। कुछ साधक तीव्र गति वाले होते हैं जो शीघ्र पहुँच जाते हैं, कुछ मन्द गति वाले होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो मार्ग से विचलित होकर कभी नहीं पहुँच पाते।

आगे के दो श्लोकों में श्रीभगवान् ने जीवन को साधने का जो विलक्षण मार्ग बताया है, वह बालकों, युवाओं, गृहस्थों और वृद्धों- सभी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। जीवन में किसी भी महान् लक्ष्य की प्राप्ति हेतु स्वयं को कैसे अनुशासित किया जाए, इसका वर्णन अत्यन्त प्रेरणादायी है।

6.16

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥16॥

हे अर्जुन ! (यह) योग न तो अधिक खाने वाले का और न बिलकुल न खाने वाले का तथा न अधिक सोने वाले का और न (बिलकुल) न सोने वाले का ही सिद्ध होता है।

6.17

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥17॥

दुःखों का नाश करने वाला योग (तो) यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का (तथा) यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

विवेचन- जीवन के दुःख का नाश करने वाला यह योग किसे सिद्ध होगा? ध्यान का आरम्भ करने के पश्चात् अन्तःशान्ति के गन्तव्य तक कौन शीघ्रता से पहुँचेगा और कौन मार्ग में ही रुक जाएगा? श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि यह पूर्णतः साधक की साधना के वेग और उसके जीवन के सन्तुलन पर निर्भर है। श्रीभगवान् यहाँ पर कहते हैं-

'अर्जुन! योगः अति अश्नतः तु न'

अर्थात् जो बहुत अधिक आहार ग्रहण करते हैं, उन्हें यह योग सिद्ध नहीं होता। यहाँ आहार का अर्थ केवल जिह्वा का स्वाद नहीं है। हमारे आदि शङ्कराचार्य जी ने इन्द्रियों के विषयों को भी आहार की श्रेणी में रखा है-

- **आँखों का आहार**- दृश्य (चलचित्र, दूरदर्शन, भ्रमण-भाष (Mobile) पर दृश्यावलोकन)।
- **कानों का आहार**- शब्द (सङ्गीत, चर्चाएँ, व्यर्थ की बातें)।
- **जिह्वा का आहार**- रस (भोजन का स्वाद)।
- **नासिका का आहार**- गन्ध।
- **त्वचा का आहार**

श्रीभगवान् कहते हैं- जो बहुत अधिक जागते हैं (Insomnia), जिन्हें बिना औषधि के निद्रा नहीं आती, उन्हें भी योग का सुख प्राप्त नहीं होता। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

"जो रसनेद्रियाचा अंकिला, कां निद्रेसी जीवें विकला।
तो नाहीं एथ म्हणितला, अधिकारिया ॥ "
(ज्ञानेश्वरी, ||6.345||)

जो अपनी जिह्वा का दास (अङ्कित) है और निद्रा ने जिसे व्याकुल किया है वह इस योग का अधिकारी नहीं है। स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कौन योग्य है?

दुःखनाशक योग की सिद्धि– संयम और सन्तुलन
श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि जीवन के समस्त सन्तापों और दुःखों का समूल नाश करने वाला यह योग किसे सिद्ध होता है।

यहाँ **श्रीभगवान्** ने **'दुःखहा योगः'** शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है- दुःखों का हरण करने वाला योग। यह योग उसे प्राप्त होता है जो **'युक्ताहारविहारस्य'** है। संस्कृत में 'युक्त' शब्द के सन्दर्भानुसार अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ इसका अर्थ है— उचित, नपा-तुला अथवा सन्तुलित (Balanced)।

साधक का आहार, जो उसकी समस्त इन्द्रियों का पोषण करता है, वह संयमित और उचित होना चाहिए। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि 'युक्त' शब्द की महत्ता विलक्षण है। हम किसी आहार-विशेषज्ञ (Dietitian) के पास जाकर कोई सामान्य तालिका (Chart) नहीं बनवा सकते। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अवस्था और आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ही अपने युक्त आहार का निर्णय करना होगा।

1. **युक्ताहार-** हर व्यक्ति को अपनी आयु, स्वास्थ्य और क्षमता के अनुसार स्वयं का 'युक्त आहार' निश्चित करना चाहिए।
2. **युक्तविहार-** चलना-फिरना और भ्रमण भी सन्तुलित हो। न तो पूर्णतः गतिहीनता हो और न ही व्यर्थ की भाग-दौड़।
3. **युक्तचेष्टस्य-** कर्मों में चेष्टा (गतिविधि) भी मर्यादित हो। किसी भी कार्य की अति घातक होती है। संसार में देखने योग्य बहुत कुछ है, किन्तु सब कुछ देखने की तृष्णा में मनुष्य अपनी अन्तःशान्ति खो देता है।
4. **युक्तस्वप्नावबोध-** यहाँ 'स्वप्न' का अर्थ निद्रा है और 'अवबोध' का अर्थ जागरण है।

आहार का सन्तुलन
साधक का आहार, जो उसकी समस्त इन्द्रियों का पोषण करता है, वह संयमित और उचित होना चाहिए। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि 'युक्त' शब्द की महत्ता विलक्षण है। हम किसी आहार-विशेषज्ञ (Dietitian) के पास जाकर कोई सामान्य तालिका (Chart) नहीं बनवा सकते। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अवस्था और आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ही अपने युक्त आहार का निर्णय करना होगा। एक खिलाड़ी, एक वृद्ध और एक रोगी का आहार समान नहीं हो सकता। बीस वर्ष के युवक और साठ वर्ष के वरिष्ठ नागरिक (Senior Citizen) की शारीरिक आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं, अतः 'युक्त' वही है जो व्यक्ति विशेष के स्वास्थ्य और आयु के अनुकूल हो।

विहार और चेष्टा का संयम
आहार के साथ-साथ विहार अर्थात् भ्रमण और शारीरिक गतिविधियों का भी 'युक्त' होना अनिवार्य है। न तो पूर्णतः गतिहीन होना श्रेयस्कर है और न ही सामर्थ्य से अधिक भाग-दौड़ करना। श्रीभगवान् के अनुसार, चेष्टा अर्थात् क्रियाकलाप भी उचित (Proper) होने चाहिए।

आजकल के परिवेश में लोग अतिशय व्यायाम (Exercise) के मोह में अपना स्वास्थ्य सङ्कट में डाल देते हैं। अभी एक दृश्य-श्रव्य सन्देश (Video) में देखा गया कि अत्यधिक व्यायाम के कारण एक युवक की स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि उसे चिकित्सालय में भर्ती (Admit) करना पड़ा। श्रीभगवान् स्पष्ट कहते हैं कि कर्मों की हलचल भी उचित सीमा में ही होनी चाहिए। कुछ लोग निरन्तर भ्रमण में ही लगे रहते हैं, एक के बाद एक रमणीय स्थान देखने की उनकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वे भूल जाते हैं कि संसार के समस्त देशों को देख लेने के उपरान्त भी कुछ न कुछ शेष रह ही जाएगा, किन्तु जीवन का सूर्य (भानु) एक दिन निश्चित ही अस्त हो जाएगा। अतः अपनी चेष्टाओं को संयमित करना ही योग का मार्ग है।

युक्त निद्रा और जागरण (स्वप्नावबोध)
श्रीभगवान् यहाँ **'युक्तस्वप्नावबोधस्य'** शब्द का प्रयोग कर एक गम्भीर सत्य उद्घाटित करते हैं। 'स्वप्न' का अर्थ है निद्रा और 'अवबोध' का अर्थ है जागरण।

साधक के लिए निद्रा उचित मात्रा में होनी चाहिए। सामान्यतः छह से सात घण्टे की विश्रान्ति शरीर को स्फूर्ति (Fresh) प्रदान करने के लिए पर्याप्त होती है। प्रश्न उठता है कि यदि निद्रा युक्त है तो शेष समय में तो मनुष्य जागृत ही रहता है फिर श्रीभगवान् ने 'युक्त अवबोध' पर बल क्यों दिया?

इसका तात्पर्य यह है कि जागरण के समय का सदुपयोग कैसे हो रहा है। यदि जागरण के समय हम केवल भ्रमण-भाष (Mobile) में लीन हैं, व्यर्थ का प्रलाप कर रहे हैं, दूसरों की निन्दा या चुगली में समय गँवा रहे हैं तो वह 'युक्त अवबोध' कदापि नहीं है। जब जागरण की अवस्था सत्कार्यों और भगवद्-चिन्तन में विनियोजित होती है, तभी उसे 'युक्त बोध' कहा जाता है।

श्रीभगवान् कहते हैं- **'योगो भवति दुःखहा'**। जो इस प्रकार सन्तुलित जीवन जीता है, उसके लिए यह योग दुःखों का नाश करने

वाला सिद्ध हो जाता है।

इसे एक सङ्गीतकार के उदाहरण से समझा जा सकता है। एक वादक अपनी वीणा या वायलिन के तारों को उतना ही खींचता है जिससे स्वर मधुर निकले। यदि तार अधिक कस दिए जाएँ तो वे टूट सकते हैं या स्वर बेसुरा हो जाता है। इसी प्रकार, हमें अपने जीवन की डोर को भी उतना ही खींचना चाहिए जिससे जीवन का सङ्गीत मधुर बना रहे। जीवन में कहाँ रुकना है और कितनी मर्यादा रखनी है, यह बोध ही मनुष्य को योगी बनाता है। जो इस प्रकार अपने जीवन को साध लेता है, वही उस परम आनन्द का अधिकारी होता है।

6.18

यदा विनियतं(ञ्) चित्तम्, आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः(स्) सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा॥18॥

वश में किया हुआ चित्त जिस काल में अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है (और) (स्वयं) सम्पूर्ण पदार्थों से निःस्पृह (हो जाता है), उस काल में (वह) योगी है - ऐसा कहा जाता है।

विवेचन- पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि एक घण्टे के गहन ध्यान की सिद्धि के लिए चौबीस से तीस घण्टों का कड़ा अनुशासन पालन करना पड़ता है; तभी ध्यान सधता है। श्रीभगवान् यहाँ इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं-

'यदा विनियतं चित्तम्',

अर्थात् जब अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त, जो अब न केवल नियन्त्रण में है, अपितु स्वयं में रमने लगा है, वह **'आत्मन्येव अवतिष्ठते'** अपने स्वरूप में स्थित होने लगता है।

चित्त को स्थिर कैसे किया जाए? जिस प्रकार मन बहिरङ्ग विषयों की ओर वेग से दौड़ता है, उसे वहाँ से बटोर कर बार-बार वापस लाना पड़ता है। मन को संयमित कर उसे श्रीभगवान् के स्वरूप का आलम्बन देना होता है। धीरे-धीरे जब मन को उस ईश्वरीय तत्त्व में रस आने लगता है, तब वह स्वतः वहाँ स्थिर होने लगता है।

श्रीभगवान् यहाँ **'अवतिष्ठते'** शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है- स्वस्थ होना। सामान्यतः 'स्वस्थ' का अर्थ हम केवल शारीरिक निरोगता से लेते हैं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से स्वस्थ वह है जो 'स्व' (अपने स्वरूप) में स्थित हो गया है। जिसकी वृत्तियों का बाहर भटकना बन्द हो गया हो, वही वास्तव में स्वस्थ है।

निःस्पृहता और योग की प्रक्रिया
श्रीभगवान् कहते हैं- **'तदा सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः'**।

जब साधक अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब वह समस्त कामनाओं के प्रति निःस्पृह हो जाता है। हृदय में जितनी अधिक इच्छाएँ और कामनाएँ होंगी, मन उतना ही अशान्त होकर बाहर की ओर दौड़ेगा। अतः आवश्यक है कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए मन को संयमित किया जाए।

यहाँ **'निःस्पृहः'** शब्द महत्त्वपूर्ण है। **'स्पृहा'** का अर्थ है- तीव्र लालसा (Craving)। जब अन्तःकरण से यह लालसा समाप्त हो जाती है तब श्रीभगवान् कहते हैं- **"युक्त इति उच्यते"** अर्थात् वह 'युक्त' (योगी) कहा जाता है।

यह कोई आकस्मिक घटना (Event) नहीं है अपितु एक निरन्तर चलने वाली साधना की प्रक्रिया (Process) है। यह धीरे-धीरे ही सिद्ध होती है। इस मार्ग पर चलते हुए साधक अनेक बार फिसलता है, किन्तु उसे पुनः प्रयास करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए ही गन्तव्य प्राप्त होता है।

स्थिर चेतना का रूपक
जब चित्त पूर्णतः स्थिर हो जाता है तब साधक के अन्तःकरण में जलने वाली उस चैतन्यमयी ज्योति का श्रीभगवान् बड़ा ही सुन्दर वर्णन

करते हैं। वे इसकी तुलना एक ऐसे स्थान से करते हैं जहाँ वायु की हलचल न हो।

निर्वात स्थान पर, जहाँ हवा के झोंके नहीं पहुँचते, वहाँ दीपक की लौ बिना हिले एकदम स्थिर जलती है। इसी प्रकार, जिस योगी का चित्त परमात्मा में लीन हो गया है, उसकी अन्तःचेतना भी पूर्णतः स्थिर और निश्चल हो जाती है। अगले श्लोक में श्रीभगवान् इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हैं।

6.19

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगमात्मनः॥19॥

जैसे स्पन्दन रहित वायु के स्थान में स्थित दीपक की लौ चेष्टा रहित हो जाती है, योग का अभ्यास करते हुए वश में किए हुए चित्त वाले योगी के चित्त की वैसी ही उपमा कही गयी है।

विवेचन- श्रीभगवान् योगी के चित्त की स्थिरता को समझाने के लिए अत्यन्त प्रभावशाली उपमा देते हैं। इसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. निवातस्थ दीपक की उपमा
श्रीभगवान् कहते हैं कि जैसे वायु-रहित स्थान में रखा हुआ दीपक नहीं डगमगाता, उसकी लौ स्थिर रहती है, उसी प्रकार उस योगी का चित्त स्थिर हो जाता है, जिसने अपने मन को संयमित करके आत्मा में स्थित कर लिया है।

"**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।**"

यहाँ '**नेङ्गते**' का अर्थ है- हिलता नहीं, डोलता नहीं। '**यतचित्तस्य**' का तात्पर्य है- जिसका चित्त संयमित है। अर्थात् बाह्य विक्षेपों के रहते हुए भी उसकी आन्तरिक ज्योति अचल रहती है।

2. आन्तरिक शान्ति बनाम बाह्य परिस्थितियाँ
योगी का जीवन बाहर से सामान्य या कभी-कभी सङ्घर्षमय (युद्धमय) भी हो सकता है, किन्तु उसके अन्तःकरण की स्थिति अविचल रहती है। वह अन्तर्ज्योति, अन्तःसुख और अन्तराराम में स्थित रहता है अर्थात् अपने भीतर ही विश्राम पाता है। **श्रीमद्भगवद्गीता** के पाँचवें अध्याय का भाव भी यही है कि जो भीतर रमण करता है, वही वास्तविक सुख को प्राप्त करता है।

3. स्फटिक-दीपक की उपमा
सन्त ज्ञानेश्वर महाराज इस अवस्था को और भी सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट करते हैं-

"म्हणौनि सद्भाव जीवगत, बाहेरी दिसती फांकत,
जे स्फटिकगृहींचे डोलत, दीप जैसे॥"
(ज्ञानेश्वरी, ॥6.476॥)

जैसे स्फटिक (Crystal) के भीतर रखा दीपक सुरक्षित रहता है और उसकी ज्योति शतगुणित होकर बाहर फैलती है, उसी प्रकार योगी की आत्मज्योति भीतर स्थिर रहते हुए बाहर के वातावरण को भी प्रकाशित करती है। यह केवल स्वयं के लिए नहीं, बल्कि अन्य लोगों के लिए भी सद्भाव से प्रकाश का कारण बनती है।

4. चित्त का उपराम और योग का फल
निरन्तर अभ्यास, '**योगसेवया**' के द्वारा चित्त निरुद्ध (वश में) और उपरम (शान्त) हो जाता है। अब वह विषयों की ओर नहीं दौड़ता, बल्कि अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। यही योग की परिपक्व अवस्था है।

निष्कर्ष
इस प्रकार श्रीभगवान् यहाँ जिस योगी का चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह कोई बाह्य रूप से पृथक् दिखने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि ऐसा

साधक है—

- जिसकी भीतर की लौ स्थिर है।
- जिसका चित्त अविचल है।
- जो संसार के मध्य रहकर भी उससे विचलित नहीं होता।

यही ध्यान की परिपक्वता है, जहाँ बाहर की आँधियाँ चलती रहती हैं, पर भीतर का दीपक कभी नहीं बुझता।

6.20

यत्रोपरमते चित्तं(न्), निरुद्धं(म्) योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं(म्), पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥20॥

योग का सेवन करने से जिस अवस्था में निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्था में (स्वयं) अपने आप से अपने आपको देखता हुआ अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाता है।

विवेचन- योगी अपने भीतर स्वयं की वास्तविक पहचान पाकर और उस परमात्मतत्त्व के दर्शन कर अत्यन्त तुष्ट अर्थात् पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है। श्रीभगवान् इस अवस्था का विवेचन करते हुए कहते हैं-

"यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।"

'योगसेवया निरुद्धं चित्तम्' का अर्थ है- योग के सेवन से अर्थात् बार-बार निरन्तर अभ्यास करने से। प्रतिदिन योगाभ्यास और अन्तर्यात्रा के कारण जब चित्त की वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब वह **'निरुद्ध'** कहलाता है। **'चित्तं यत्रोपरमते'** अर्थात् वह चित्त उपराम होकर परमात्मा में ही रमने लगता है और सांसारिक विषयों से ऊपर उठ जाता है।

"यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।"

वह परमात्मा के ध्यान में मग्न होकर अपने अन्तःकरण में **'आत्मना आत्मानम्'** अर्थात् आत्मा द्वारा परमात्मा को देखता है और उसी सच्चिदानन्द स्वरूप में तृप्त हो जाता है। जब वह इस आत्मरस का आस्वादन कर लेता है, तब बाह्य जगत् के लौकिक रस उसे लुभावने नहीं लगते। वेदों में श्रीभगवान् का वर्णन **'रसो वै सः'** के रूप में किया गया है; वे ही साक्षात् रसस्वरूप हैं।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ
महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के 'समाधिपाद' और 'साधनपाद' में चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है। श्रीभगवान् ने यहाँ जिस **'निरुद्ध'** चित्त की चर्चा की है, वह सर्वोपरि अवस्था है। ये पाँच अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं-

- **मूढ़-** यह अत्यन्त अज्ञानी अवस्था है। मूढ़ चित्त पशु के समान होता है, जो केवल **"आहारनिद्राभयमैथुनं च"** अर्थात् भोजन, निद्रा, भय और सन्तानोत्पत्ति जैसे तामसिक कार्यों में ही लगा रहता है।
- **क्षिप्त-** यह चञ्चल अवस्था है, जिसे आधुनिक भाषा में हम अति-सक्रिय (Hyper) कह सकते हैं। ऐसा चित्त एक स्थान पर नहीं टिकता और सदैव भटकता रहता है।
- **विक्षिप्त-** यह हमारी सामान्य मानवीय अवस्था है। इसमें चित्त कभी एकाग्र होता है और कभी चञ्चल। जब हम विवेचन सुनते हैं या सत्सङ्ग में होते हैं, तब चित्त एकाग्र हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही पुनः अन्य विषयों में डोलने लगता है। श्रीभगवान् का मत है कि केवल एकाग्र होना ही योग नहीं है, अपितु चित्त को सही स्थान (परमात्मा) पर लगाना ही वास्तविक योग है।
- **एकाग्र-** इस अवस्था में चित्त अपने ध्येय पर स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक अपने शोध (Invention) में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे संसार का भान नहीं रहता, वैसा ही यह एकाग्र चित्त है।
- **निरुद्ध-** यह अन्तिम और श्रेष्ठ अवस्था है। यहाँ चित्त पूर्णतः शान्त हो जाता है और उसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ स्थगित हो जाती हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं- "हे अर्जुन! जब चित्त इस निरुद्ध अवस्था में पहुँचता है, तब वह अपने भीतर उस आत्मतत्त्व का दर्शन करके परमानन्द को प्राप्त करता है।" इस आत्मानुभूति के सुख का अत्यन्त सुन्दर वर्णन श्रीभगवान् आगे करते हैं।

6.21

सुखमात्यन्तिकं(म्) यत्तद्, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं(म्), स्थितश्चलति तत्त्वतः॥21॥

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय (और) बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्था में अनुभव करता है और (जिस सुख में) स्थित हुआ यह ध्यानयोगी तत्त्व से फिर (कभी) विचलित नहीं होता।

विवेचन- श्रीभगवान् यहाँ पर आत्यन्तिक सुख का वर्णन करते हैं-

"**सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।**"

वह सुख कैसा है? वह **'अतीन्द्रियम्'** और **'बुद्धिग्राह्यम्'** है। **'अतीन्द्रियम्'** अर्थात् जो इन्द्रियों की पहुँच से परे है और **'बुद्धिग्राह्यम्'** अर्थात् जिसे प्रज्ञा में परिणत हुई शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। जब बुद्धि तैलधारा के समान एकाग्र और अत्यन्त सूक्ष्म होती जाती है, तभी वह इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व तक पहुँचने में समर्थ होती है। **'यत् आत्यन्तिकं सुखम्'**— यह वही परम और अन्तिम सुख है, जिसके परे अन्य कोई सुख शेष नहीं रह जाता।

वास्तव में 'सुख' शब्द दो वर्णों के योग से बना है— 'सु' और 'ख'। यहाँ 'ख' का सम्बन्ध इन्द्रियों के छिद्रों से माना गया है। जो इन्द्रियजनित अनुभव होता है, उसे हम सामान्यतः सुख कहते हैं। भारतीय दर्शन में सुख और दुःख की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

"**अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।**"

अर्थात् जो इन्द्रियों को अनुकूल लगे वह सुख है और जो प्रतिकूल लगे वह दुःख है। किन्तु यह इन्द्रियजनित सुख नित्य नहीं होता। यह विषयों पर निर्भर है और विषय स्वयं अनित्य हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म ऋतु में वातानुकूलित यन्त्र (Air Conditioner) हमें सुख देते हैं, किन्तु शीतकाल में वही यन्त्र दुःखद प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार, प्रथम मिष्ठान्न (पेड़ा) खाने में जो रस मिलता है, वह बीसवें मिष्ठान्न तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाता है और अन्ततः वह दुःखकारक बन जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सुख विषय में नहीं है, वह केवल उस समय की अनुकूलता का आभास मात्र है।

अतीन्द्रिय सुख और ब्रह्म-बोध
श्रीभगवान् जिसे अतीन्द्रिय सुख कहते हैं; यह इन्द्रियजनित नहीं है। इस आत्यन्तिक सुख को आँखें नहीं देख सकतीं, क्योंकि देखने की शक्ति भी उसी परमात्मतत्त्व से स्फुरित होती है। केनोपनिषद् में इसका अत्यन्त सुन्दर निरूपण मिलता है-

"**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।**"
(केनोपनिषद्,1.6)

अर्थात् जिसे आँखें नहीं देख सकतीं, किन्तु जिससे आँखों को देखने की शक्ति प्राप्त होती है, वही ब्रह्म है। श्रीभगवान् कहते हैं-

"**वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।**"

एक बार जब इस सत्य का अनुभव हो जाता है, तब साधक **'तत्त्वतः'** अर्थात् अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। यह सुख बाह्य सृष्टि पर निर्भर नहीं है, क्योंकि सृष्टि तो सुख-दुःख के चक्र में निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। जिसने इस नित्य रस को चख लिया, वह फिर उससे पृथक् होना ही नहीं चाहता। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज इस भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"जैसा अमृताचा निर्झरु, प्रसवे जयाचा जठरु।
तया क्षुधेतृष्णेचा अडदरु, कहींचि नाहीं॥

तैसें हृदय प्रसन्न होये, तरी दुःख कैचें कें आहे।
तेथ बुद्धि आपैसी राहे, परमात्मरूपीं॥

(ज्ञानेश्वरी, ॥2.339-340॥)

अर्थात् जिसके भीतर अमृत का निर्झर प्रवाहित होने लगता है, उसे फिर सांसारिक भूख-प्यास का बोध नहीं रहता। उसके लिए मान-अपमान और निन्दा-स्तुति सब गौण हो जाते हैं। जब अन्तःकरण इस आत्मरस से पोषित होता है, तब साधक उससे अलग होना ही नहीं चाहता।

6.22

यं(म्) लब्ध्वा चापरं(म्) लाभं(म्), मन्यते नाधिकं(न्) ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते॥22॥

जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे अधिक कोई दूसरा (लाभ) (उसके) मानने में भी नहीं आता और जिसमें स्थित होने पर (वह) बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता।

विवेचन- श्रीभगवान् आगे योग के चरम फल का वर्णन करते हुए कहते हैं-

"**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**"

जिसे प्राप्त कर लेने के उपरान्त साधक यह अनुभव करता है कि अब इससे बढ़कर अन्य कोई लाभ शेष नहीं है, वही यह परम सुख है। यही वह स्थिति है जहाँ साधक को वह सब मिल जाता है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् संसार की कोई भी वस्तु उसे प्रलोभित नहीं कर सकती।

हमारा जीवन सुख-दुःखों से भरा हुआ है और सुख के पीछे दौड़ने वाले इस जीव को बीच-बीच में दुःखों का सामना करना पड़ता है। यह बहिरङ्ग के सुख-दुःख, इनके कारण प्रभावित होने वाले हमारे जैसे सामान्य लोगों का जीवन, श्रीभगवान् कहते हैं,
"जिस योगी ने अन्तरङ्ग के इस रस को, जिसे हम कह सकते हैं, इस अमृत-रस को चख लिया, यह अमृत का निर्झर जिसके अन्तरङ्ग से बहने लगा।"

'यं लब्ध्वा ततः अधिकं अपरं न मन्यते'
यह लाभ एक बार उसके जीवन में आ जाए-**'यं लब्ध्वा'**- तो आने के बाद वह **'ततः अधिकं अपरं न मन्यते'** अर्थात् "उससे अधिक कुछ भी नहीं है", ऐसी अनुभूति उसे हो जाती है। संसार के सारे दृश्य, सारी रसना, सारे श्रवण, सारे शब्द, यहाँ तक कि स्पर्श भी जितना सुख नहीं दे सकते, उससे भी अधिक यह सुख है।
यह किसी साधक के जीवन में आ गया है वह कैसे समझे? श्रीभगवान् कहते हैं,
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

उसके जीवन में दुःख नहीं आते, ऐसा नहीं है, अर्जुन। क्योंकि सुख-दुःखों से भरा जीवन तो सन्त-महात्माओं का भी रहा है। हम देखते हैं कि हमारे सन्त-महात्माओं ने समाज में कितने दुःख झेले हैं। समाज कई बार उनके ऊपर अत्याचार करता है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज का जीवन
सोलहवें वर्ष में नौ सहस्र ओवियों की ज्ञानेश्वरी अपने गुरु-कृपा-प्रसाद से, जिनकी वाणी में 'भावार्थदीपिका' के रूप में गीता का मनोगत दर्शन प्रकट हुआ, उसी सोलहवें वर्ष में, किशोरावस्था में, उनके जीवन के दुःखों का वर्णन कैसे किया जाए?
उनके पिताजी ने गुरु-आज्ञा से संन्यास-दीक्षा लेने के बाद पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था, यह एक लम्बा प्रसङ्ग है, समाज ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। बहिष्कार के बाद उनकी सभी सामाजिक-धार्मिक सेवाएँ खण्डित कर दी गईं। यहाँ तक कि उनके पुत्रों का उपनयन संस्कार भी नहीं किया गया।

जब उनके माता-पिता धर्मसभा के समक्ष विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि उनके पुत्रों का उपनयन संस्कार किया जाए तो उन्हें यह कहा गया कि यदि ऐसा चाहते हो तो उन्हें 'देहान्त-प्रायश्चित्त' करना पड़ेगा। तब अत्यन्त व्यथित होकर माता-पिता, विट्ठलपन्त और रुक्मिणी, रात्रि में ही त्रिवेणी-सङ्गम, प्रयाग जाकर अपने प्राणों का त्याग करने के लिए वे चल पड़े। उस समय श्रीज्ञानेश्वर महाराज की आयु मात्र बारह वर्ष थी, उनके बड़े भाई व गुरु निवृत्तिनाथ चौदह वर्ष के थे और छोटी बहन मुक्ताबाई केवल आठ वर्ष की थी। सोचिए, उन बालकों की क्या अवस्था रही होगी!
किन्तु अमृतमयी ज्ञानेश्वरी में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो समाज के इस दुर्व्यवहार के प्रति विष के समान हो। सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी अमृतमयी है। विष को अमृत में कैसे परिवर्तित किया जाता है, यह हमें वहाँ से सीखने को मिलता है। इसीलिए श्रीभगवान् यहाँ कहते हैं,

"'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥'"

कितना भी 'गुरु' अर्थात् भारी दुःख ही क्यों न आ जाए, वह योगी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता। जैसे पानी अवरोधक, water proof होता है, उसी प्रकार यह योगी दुःख अवरोधक, Sorrow proof हो जाता है, दुःख उसे डिगा नहीं सकता।

योग की नवीन परिभाषा- दुःख-वियोग

श्रीभगवान् अब योग की एक और गम्भीर और जीवनोपयोगी व्याख्या की ओर सङ्केत करते हैं। वे इसे **'दुःख के संयोगों का वियोग'** कहते हैं। श्रीभगवान् का निर्देश है कि इस योग का अभ्यास **'अनिर्विण्ण चेतसा'** अर्थात् बिना ऊबे, पूर्ण उत्साह और अक्लान्त चित्त से करना चाहिए।

दुःख के संयोग का वियोग किस प्रकार किया जाए और उसे अपने जीवन में कैसे उतारा जाए, इसी विषय को हम अगले विवेचन में समझने का प्रयास करेंगे। आज के इस विवेचन को पूज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित करते हुए अपनी वाणी को विराम देते हैं।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज की जय!
सद्गुरुदेव भगवान् की जय!

प्रश्नोत्तर सत्र

प्रश्नकर्ता- आनन्द श्रीवास्तव भैया
प्रश्न- आधुनिक समाज के इस सङ्घर्षपूर्ण परिवेश में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज जैसी मानसिक स्थिति को बनाए रखना असम्भव सा प्रतीत होता है। हम सामान्य जन अपने चित्त को कैसे शान्त रखें?
उत्तर- ज्ञानेश्वर महाराज श्रीभगवान् विष्णु के ही पूर्णावतार थे और बाईस वर्ष की अल्पायु में ही पूर्णतः चैतन्य में स्थित हो गए थे। हम सामान्य लोग उनके **स्मरण और ध्यान** से अपना चित्त शान्त कर सकते हैं। इसके लिए हमें यह अभ्यास करना चाहिए कि हम प्रातः श्रीमद्भगवद्गीता का एक श्लोक अथवा ज्ञानेश्वरी की एक ओवी लिखें और दिनभर व्यवहार करते समय उस **वाङ्मय मूर्ति** का स्मरण करें। जब भी जीवन में सङ्घर्ष आए, उस श्लोक को याद करने से मन स्वतः ही शान्त होने लगता है।

प्रश्नकर्ता- एक साधिका दीदी
प्रश्न- यदि परिवार का ही कोई सदस्य ऐसा व्यवहार करे जिससे बहुत क्रोध आता हो और हम स्वयं को उससे अलग भी न कर सकें तो ऐसी स्थिति में क्रोध पर नियन्त्रण कैसे पाएँ?
उत्तर- ऐसे समय में मन को उस व्यक्ति से हटाकर (डिस्कनेक्ट कर) किसी अच्छे कार्य, पूजा-पाठ या श्रीमद्भगवद्गीता के लेखन में लगाना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने **असङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा** के माध्यम से अनासक्ति का जो मार्ग बताया है, उसका आश्रय लें। अपनी स्मृतियों से उस व्यवहार की चुभन को मिटाने के लिए **क्षमा** का भाव अपनाएँ। सन्त मुक्ताबाई के अनुसार, जब हम दूसरों को क्षमा करते हैं तो वास्तव में स्वयं को ही क्षमा कर शान्ति प्रदान करते हैं। यदि स्वयं क्षमा न कर पाएँ, तो सन्तों के चरणों में प्रार्थना कर इसे करने की क्षमता माँगें।

प्रश्नकर्ता- क्षमा दीदी
प्रश्न- सन्त ज्ञानेश्वर महाराज रचित ज्ञानेश्वरी हिन्दी में कहाँ उपलब्ध होगी? इसके अतिरिक्त, जब कोई बार-बार अपमान करे तो क्या करना चाहिए और 'प्रत्याहार' का वास्तविक अर्थ क्या है?
उत्तर- हिन्दी ज्ञानेश्वरी गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित है, जिसे आप उनकी वेबसाइट पर ऑनलाइन भी प्राप्त कर सकते हैं।

अपमान की स्थिति में यदि कोई आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाने के लिए बार-बार ऐसा करे तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के अपराधों को सहने की सीमा की भाँति, हमें भी सही शब्दों में अपनी सीमा बता देनी चाहिए। जब संसार यह देखता है कि हम उनके व्यवहार से विचलित नहीं हो रहे तो वे अपमान करना छोड़ देते हैं। जहाँ तक प्रत्याहार का प्रश्न है, इसका अर्थ है बहिर्मुखी इन्द्रियों को **अन्तर्मुख** करना। इन्द्रियों को साङ्सारिक विषयों के स्थान पर भगवान् श्रीकृष्ण के रूप, स्तोत्र और नाम का आहार देना ही **प्रत्याहार** है।

प्रश्नकर्ता- एक साधिका दीदी
प्रश्न- छोटी-छोटी बातों या घटनाओं से मन दुःखी और अशान्त हो जाता है। अन्तर्मन को शान्त करने का क्या उपाय है?
उत्तर- अशान्त मन को एक स्थान से हटाकर (डिटैच कर) दूसरी सकारात्मक जगह पर लगाना आवश्यक है। यदि मन बहुत अधिक विकारग्रस्त या भयाक्रान्त हो तो उसे एकान्त के स्थान पर **सत्सङ्ग** या 'लोकान्त' में रहना चाहिए। अपने मन को प्रकृति के साथ जोड़ें, जैसे तुलसी को जल देना, सूर्य को अर्घ्य देना या गौ सेवा करना। प्रकृति अविकारी और व्यापक होती है, उसके सान्निध्य में मन अपनी सङ्कुचित अशान्ति को स्वतः ही छोड़ने लगता है।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||